

भारतीय भाषा शास्त्रीय चिंतन में भाषा की अवधारणा

टीना यादव*

भाषा क्या है? इस प्रश्न का कोई न कोई उत्तर सबके पास है। सामान्य रूप से भाषा परस्पर विचार आदान-प्रदान, संप्रेषण का एक माध्यम है, प्रतीक व्यवस्था है, पैटर्न है, सोचने का साधन है इत्यादि। किंतु ये जवाब भाषा की व्यापकता और गहनता के प्रति उठने वाली जिज्ञासा को शांत नहीं करते। भाषा जितना बाह्य जगत के कार्य-व्यापार का साधन दिखती है वहीं आंतरिक स्तर की अनुभूति व वाक् विहीनता की स्थिति में भी किसी न किसी अन्य रूप में भाषा मौजूद होती है। इस पर और सोचने की आवश्यकता है। भाषा से जुड़े जागतिक पक्ष और संरचनात्मक स्तर से जुड़े प्रश्नों पर भाषा विज्ञान चर्चा करता है, किंतु भाषा क्या है को जानने-समझने के लिए इससे जुड़े दार्शनिक प्रश्न भी अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। भाषा कोई बाह्य साधन है, आंतरिक प्रक्रिया है या दोनों, मनुष्यकृत है, ईश्वर जनित या प्रदत्त है, नित्य है या अनित्य, अनश्वर है या नश्वर, कब या किस काल में अस्तित्व में आई या हमेशा से है, भाषा साधन है या साध्य या दोनों ही है, भाषा और यथार्थ के मध्य कैसा संबंध है, ये प्रश्न गंभीर चिंतन को आमंत्रण देते हैं। भाषा जितनी मनोरम है, सरस है, सरल है, सुखदायी है, उतनी ही विचारणीय भी है। इसी समझ के साथ यह लेख भाषा के मायने व प्रकृति को लेकर विचार करता है। इसके साथ ही भाषा की अवधारणा और भाषा के उद्देश्य समझने के लिए प्राचीन भारतीय भाषा शास्त्रीय चिंतन का अवलंब लेता है।

भाषा की अवधारणा की भारतीय पृष्ठभूमि

सामान्यतः भाषा अनुभूतियों और विचारों को अभिव्यक्त करने का एक साधन है। यह भाषा के साधनरूप की परिभाषा है और मोटे तौर पर सही भी लगती है। किंतु साधन वह चीज होती है जिसका उपयोग व्यक्ति अपने कार्य को पूरा करने के लिए करता है। इस हिसाब से व्यक्ति का इस साधन के उपयोग पर नियंत्रण भी होना चाहिए, किंतु भाषा उपयोग पूरी तरह व्यक्ति के नियंत्रण में नहीं है। उदाहरण के लिए, रक्त प्रवाह करने वाला हृदय हमारे

शरीर के भीतर होते हुए भी हमारे वश में पूरी तरह नहीं है, इसलिए हृदय कोई साधन मात्र नहीं है। इसी संदर्भ में समझें तो बोलने वाले के मुँह से जो शब्द बाहर आते हैं उनपर उसका नियंत्रण तो प्रतीत होता है, किंतु सभी समय, संदर्भ, स्थितियों और वक्ताओं पर यह बात लागू नहीं होती। गुस्से में या उत्तेजना में भाषा नियंत्रण से बाहर हो जाती है। भाषा केवल वस्तु नहीं है, न ही साधन मात्र। यह एक प्रक्रिया भी है जैसे हिंदी में दन्त्य ध्वनियाँ हैं जो कि अंग्रेजी में नहीं हैं। इसमें हिंदी भाषी अपने बोलने की प्रक्रिया में

* शोधार्थी, पीएचडी, द्वितीय वर्ष, शिक्षा विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

कभी-कभी जीभ को दाँतों से छुआकर कुछ विशेष ध्वनियाँ उत्पन्न करते हैं। यह उच्चारण की प्रक्रिया की विशेषता है और हर भाषा में अपनी कोई न कोई विशेषता है। मुख से बाहर आने वाली भाषा ही मनुष्य की भाषा का एकमात्र रूप नहीं है। ज़रा गौर से समझें तो पाएँगे कि हमारे मस्तिष्क में विचारों के रूप में निरंतर भाषा उत्पन्न होती रहती है। यह आंतरिक भाषा भी उतनी ही स्पष्ट रूप में भाषा है जितने कि मुख से उच्चारित होने वाली ध्वनियों के माध्यम से बाहर आने वाली भाषा। जो बोल नहीं पाते उनमें भी भाषा का अप्रकट रूप मौजूद है। इसका आशय वाग्रूपता से है जिसे तंद्रा पटनायक ने *वर्बलाएजेबिलिटी* कहा है। भाषा के प्रकट, अप्रकट रूप और स्वरूप को समझने के लिए भारतीय परिप्रेक्ष्य में वाक् की व्यापक संकल्पना से परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। अतः अगले चर्चा बिंदु के रूप में वाक् को समझने का प्रयास किया जाएगा।

वाक् की संकल्पना

वाक् ही भारतीय रागबोध, तत्त्वबोध, सौंदर्यबोध और भावबोध की पीठिका या पृष्ठभूमि है। यह सभी विद्याओं, शिल्पों को एक साथ जोड़ने वाली एकसूत्रता है और इसी से सब वस्तुएँ अपने अलग-अलग व्यक्त रूप में पूर्ण प्रदर्शित होती हुई दिखती हैं—

सा सर्व विद्या शिपानाम कलानाम चोपबन्धनी।

तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते॥

(वाक्यपदीय 1-125)

वाक् से ही समस्त वस्तु जगत अनुभव किए जाने योग्य बनता है और अमूर्त वाक् के ही अप्रदर्शित रूप का नाम ध्यान आंतरिक शुद्धि और विश्व चेतना के साथ एकाकार करने के लिए प्रयोग किया जाता है। वाक् अपनी स्वतंत्र सत्ता के बल पर सनातनी भाषा

परंपरा का दूसरा नाम है। इस परंपरा से जुड़ने का अर्थ वाक् शब्द मात्र को पढ़ना न होकर बल्कि वाक्-तत्त्व से जुड़ना है और इसी के अगले स्तर पर सृष्टि के अध्ययन से जुड़ना है। ऋक संहिता में वाक् जगत की प्रेरणा और मानवीय अस्तित्व, यज्ञ प्रक्रिया की प्रेरक शक्ति के रूप में मानी गई थी। भारतीय भाषा चिंतन में वाक् की कई और कोटियों पर भी चर्चा मिलती है। ब्राह्मण-वाङ्मय में वाक् के बारे में नीचे दिए गए चार प्रकार के आख्यान मिलते हैं—

1. वाक्, सृष्टि की प्रक्रिया से संबंधित है। वाक्, सृष्टि का अन्तर्निहित बीज है। सोयी हुई निष्क्रिय अवस्था (जगत बनने से पूर्व की अवस्था) का पहला स्पंदन है।
2. वाक् जगत से परे भाव का या आनंद प्राप्त करने का एक साधन है, कोई लक्ष्य नहीं है। यह मन में स्थित मध्यमा वाक् की स्थिति है।
3. वाक् उच्चरित मंत्र की वाणी है, ज्ञान को प्रकाशित करने वाली भाषा है। यह देवताओं और असुरों के युद्ध में विजय के साधन के रूप में प्रयुक्त हुई है।
4. वाक् छान्दस वाणी है। यह यज्ञ की सहचरी है जो विशेष प्रकार के अपरोक्ष अनुभव से प्राप्त होती है और अभ्यास से सुरक्षित रखी जाती है। वाक् को मानव-व्यापार या मानव वागिन्द्रिय से जोड़ने वाले आख्यान इसी से निकलते हैं। वाक् से जुड़े ये विचार संकेत देते हैं कि वाक् की सीमा में ही समस्त सृष्टि समाहित है। दृश्यमान जगत से पहले और जगत में घटने वाली घटनाएँ सभी वाक् से ही जुड़ी हुई हैं।

शतपथ ब्राह्मण (14।4।3।10-19) के अनुसार वाक्, मन, प्राण की त्रिपुटी का रूप कुछ ऐसा है—

वाक् पृथ्वी है, मन अंतरिक्ष, प्राण आकाश; वाक् ऋग्वेद, मन यजुर्वेद, प्राण सामवेद; वाक् माता, मन पिता, प्राण दोनों की संतति। वाक् और मन का आपस में जुड़ाव, मन की एकाग्रता या ध्यान-योग से जुड़े होने के कारण ही छान्दस वाणी के महत्व का संकेत देता है। इस ग्रंथ के अनुसार व्यक्त वाणी केवल मनुष्यों के पास है बाकी अव्यक्त वाणी है। वाक् पर यह चिंतन संकेत करता है कि भारतीय भाषा शास्त्रीय चिंतन किस प्रकार सूक्ष्म स्तरों पर विकसित होता गया। जिस प्रकार सत्य और वास्तविकता की खोज आंतरिक अनुभूति और साधना का विषय है वाक् इसी क्रम में आंतरिक साधना भी है और स्वं सूक्ष्म सत्य भी। अतः भाषा स्वं जगत है अथवा पूरे अस्तित्व की समानांतर प्रक्रिया है। इसी पृष्ठभूमि में अब हम भाषा की विभिन्न परिभाषाओं को देख सकते हैं।

भाषा की परिभाषा व स्वरूप

भाषा शब्द का जन्म संस्कृत की 'भाष' धातु से हुआ है। इसका अर्थ है— व्यक्त वाणी अर्थात् बोलना या कहना। हालाँकि, *न्याय शास्त्र* के अनुसार किसी भी परिभाषा में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव जैसे दोष अनिवार्य हैं फिर भी भाषा को लेकर भारतीय दृष्टि को जानने के लिए कुछ परिभाषाओं को पढ़ने व समझने की आवश्यकता है। कुछ परिभाषाएँ देखी जा सकती हैं।

महर्षि पतंजलि ने पाणिनि की *अष्टाध्यायी* पर *महाभाष्य* में भाषा की परिभाषा करते हुए कहा है— “व्यक्ता वाचि वर्णा येषां त इमे व्यक्तवाचः”। अर्थात् जो वाणी से व्यक्त हो उसे भाषा की संज्ञा दी जाती है। वाणी यानी व्यक्त भाषायी स्थिति को भाषा माना गया है। भाषा के लिए वाक् शब्द का प्रयोग कई

ग्रंथों में किया गया है। वाणी यानी अभिव्यक्ति को भाषा मानना यह संकेत करता है कि भाषा का प्रकट रूप भाषा को परिभाषित करने में महत्वपूर्ण रहा है। *अमर कोश* में भाषा को वाणी का पर्यायवाची बताते हुए कहा गया है— “ब्राम्ही तु भारती गीर वाग् वाणी सरस्वती”। आचार्य दंडी के अनुसार भाषा वही है जिससे लोकयात्रा चलती है— “वाचामेव प्रसादेन, लोकयात्रा प्रवर्तते”।

भर्तृहरि ने शब्द उत्पत्ति तथा ग्रहण के संबंध में भाषा को इस प्रकार परिभाषित किया है—

“शब्द कारणमर्थस्य स हि तेनोपजयन्ते।

तथा च बुद्धि विषयादर्थच्छदः प्रतीयते॥

बुद्ध यथैवेव बुद्ध्यर्थे जाते तदानि दृश्यते॥”

शब्द-व्यापार (भाषा) दो बुद्धियों के बीच विचार आदान-प्रदान का एक माध्यम है। भाषा की परिभाषाओं की चर्चा के क्रम में भाषा को शब्द व्यापार के रूप में परिभाषित करने के पीछे ‘शब्द-ब्रह्म’ की संकल्पना को समझना होगा।

भारतीय भाषाशास्त्रीय चिंतन सत्य के आग्रह का चिंतन है। सत्य अर्थात् अस्तित्व की वास्तविकता को जानना। शब्द, जगत के दृश्यमान होने का कारण हैं और शब्द स्वं वास्तविकता को आवरण में ढके भी रखते हैं। अप्रकट का ज्ञान, तत्त्व ज्ञान और उस तक पहुँचने के मार्ग वेदों में वर्णित हैं अर्थात् वेदों में सत्य को जानने की यात्रा की चर्चा है। व्याकरण वेदों को डीकोड करने या समझने का सबसे सटीक, सूक्ष्म और व्यापक तरीका है। व्याकरण की महत्ता का अंदाज़ा इसी से लगाया जा सकता है कि व्याकरण को वेदों का मुख कहा गया है। छह में से चार वेदांग शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त और छन्दस भाषा पर ही हैं। भारतीय भाषा चिंतन परंपरा में ‘शब्द’ आधारभूत संकल्पना है

तथा व्याकरण को शब्दानुशासन भी कहा गया है। इस प्रकार हम भारतीय भाषा चिंतन परंपरा की गहनता का संकेत अवश्य ले पाएँगे। क्योंकि समस्त ज्ञान या संपूर्ण सत्य, बाहरी पदार्थ या प्रमाण न होकर मानव के भीतर ही है। अतः भाषा में आबद्ध ज्ञान मानव के भीतर है जिसके लिए साधना भी आवश्यक है। शब्द ही परम ब्रह्म (परा शक्ति/परा वाक्) है जो निष्क्रिय या सुप्त अवस्था में मानव शरीर के मूलाधार में स्थित रहता है। सक्रिय होने पर अप्रकट अवस्था में नाभि में पश्यंती के रूप में रहता है, मन के साथ मिलने पर शाब्दिक रूप में हृदय में विचरण करता है और वाक् यंत्रों की सहायता से वैखरी (उच्चरित वाणी) के रूप में प्रकट होता है। अतः पूर्ण सत्य या वास्तविकता को जानने के लिए आंतरिक साधना, भाषातीत साधना को भी आवश्यक माना गया है। इसी वैचारिक पृष्ठभूमि में शब्द-ब्रह्मा को समझा जाता है और भाषा के मायने भी यहीं से निकलते हैं।

भारतीय आचार्यों की दृष्टि में भाषा केवल साधन न होकर जीवन और चेतना का विस्तार है। भाषा एक सृजनात्मक व्यापार है जिसके बिना ज्ञान निश्चल, निष्क्रिय और निराकार बना रहता है। इसके साथ ही भाषा जगत अपने में एक पूरा, स्वायत्त और समानांतर जगत है जो बाह्य जगत को और अनुभव जगत को उजागर करते हुए भी स्व को तटस्थ रख सकता है। भारतीय भाषा चिंतन में व्यक्त वाणी अर्थात् बोलना या कहना को भाषा माना गया है। अतः भाषा के मौखिक रूप को उसका अस्तित्व सार कह सकते हैं। भाषा में उत्पत्ति और उसे ग्रहण करना एक-दूसरे में अंतर्निहित है। इस संबंध को समझें तो पाएँगे कि भारतीय चिंतन मूलतः वाक् केंद्रित चिंतन है। ऋग्वेद

से ही वाग्व्यापार को सृष्टि के समानार्थी के रूप में देखा जाना प्रारंभ हो गया था। प्रकट और अप्रकट रूप में वाक् की कई अवस्थाएँ मानी गईं। वाक् की भीतरी खोज ही मंत्र साधना का कारण बनी। इस खोज का ही परिणाम यह वाक् है जो हाथ में ली नहीं (नियंत्रण में नहीं की जा सकती) जा सकती, यह स्वयं ही अपने रहस्य उजागर करती है। इसमें वाणी के अंतर्निहित सौंदर्य का वर्णन किया गया है— उसे देखकर भी कोई देख नहीं पाता, उसे सुनकर भी कोई सुन नहीं पाता; जिसको वाणी अपना मर्म सुवासा जाया की तरह अपने आप उद्धाटित कर दे, वही उसके अंतर्निहित सौंदर्य को परख सकता है।

उत त्वः पश्यन न ददर्श वाच भुत त्वः शणवान न शर्णोत्येनाम।

उतो त्वस्मै तन्वं १ वि सस्त्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥ (ऋग्वेद, द्वितीय सूक्त)

ऋक संहिता, जिसे वाक् सूक्त भी कहा गया है, में वाक् को प्रेरिका शक्ति, सर्जिका शक्ति, पालिका शक्ति और संहारिका शक्ति के रूप में देखा गया है। यह जानना इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि वाक् का अस्तित्व और प्रभाव अति गहन और सूक्ष्म है। यह भारतीय भाषा शास्त्रीय चिंतन का हिस्सा है। वाक् की स्थितियों को ही भर्तृहरि ने अपने भाषा शास्त्रीय और तत्वमीमांसीय चिंतन में केंद्रीय रूप से स्थान दिया है। वाक् या तो सृष्टि की प्रक्रिया है या सृष्टि की समांतर सृष्टि है। वाक् की यही परिकल्पना भारतीय भाषा दर्शन का आधार भी है। भारतीय दृष्टिकोण में भाषा का अध्ययन चेतन के साथ उसके संबंध के संदर्भ में किया गया और समस्त सांसारिक रूपों तथा मानव अनुभवों को भाषा के द्वारा ही व्यक्त समझा गया। भारतीय दर्शन

के अनुसार भाषा के जागतिक (Phenomenon) तथा तत्त्वमीमांसक (Metaphysics) दोनों ही पक्ष हैं। जैसा कि भर्तृहरि ने *वाक्यपदीय* के प्रारंभ में कहा है— हमारी भाषा के मूल में ब्रह्मा है और जिसे हम संसार कहते हैं वह केवल भाषा के शब्दों का अर्थ है। किसी चीज़ को नाम देने की प्रक्रिया से उस चीज़ का अक्षरशः जन्म होता है। जिस समय मनुष्य के मन में भाषा काम कर रही होती है तब संसार के पदार्थ अलग-अलग दिखाई देते हैं। यदि ऐसा न हो तो सारा विश्व ही ‘तथता’ (जो जैसा है वैसा) की स्थिति में रहेगा। भाषा के शांत हो जाने पर संसार के विभिन्न पदार्थ ब्रह्मा में मिल जाते हैं। दूसरे शब्दों में संसार के विभिन्न पदार्थों का जन्म उन्हें देखने वाले मनुष्य की भाषा और विचारों से होता है।

अनादि – निधनं ब्रह्मा शब्द – तत्त्वं यद् अक्षरमा
विवर्तते अर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

(वाक्यपदीयः 1-1)

अर्थात् भाषा का एक अनादि अनन्त मूल तत्त्व है। वह तत्त्व ब्रह्मा है। जगत की प्रक्रिया भाषा के अर्थ के विवर्त—ऊपर से दिखने वाले परिवर्तन के रूप में प्रकट होती है।

ज्यों-ज्यों हम भाषा में अधिकाधिक शब्दों के आधार पर विश्लेषण करते जाएँगे त्यों-त्यों हमें आधिकाधिक पदार्थ दिखाई देते जाएँगे। ब्रिटिश कवि विलियम बेक ने कहा है— “यदि मनुष्य के प्रत्यक्षीकरण के द्वार साफ़ हो जाएँ उसे प्रत्येक चीज़ वैसी दिखाई देगी जैसी कि वह है, सीमाहीन।” (If the doors of perception were cleansed everything would appear to man as it is, infinite.)

घटादि दर्शनालोकः परिच्छिन्नोऽवसीयते।

समारम्भाच्च भावानामादिमद् ब्रह्मा शाश्वतं॥

(वाक्यपदीयः 2-237)

भर्तृहरि के अनुसार घड़ों आदि के अलग-अलग दिखाई देने के कारण यह संसार सीमित स्वरूप का मान लिया जाता है। पर संसार में विद्यमान विभिन्न पदार्थों का क्योंकि प्रारंभ होता है इसलिए ब्रह्मा का कोई आदि होगा, ऐसा अज्ञानी लोग मान लेते हैं। ‘शब्द ब्रह्म’ की अवधारणा इसी सीमाहीनता की तरफ इशारा करती है। भर्तृहरि की वाक्यपदीयः के अनुसार शब्द का एक स्थिति से दूसरी स्थिति में आना इत्यादि बदलाव के कारण ही जगत दृश्यमान है। शब्द का दायरा पूरा संसार है। शब्द के बिना कुछ नहीं। शब्द तत्त्व भी है और प्रमाण भी है।

अणु विद्धमिव ज्ञानं सर्व शब्देन भासते।

किसी भी तरह के ज्ञान या अनुभव के बोध के लिए भाषागत रूप होना सबसे पहली शर्त है। शब्द बोध का प्रमाण भी शब्द में ही निहित है। शब्द ही सत्य है। पूरी भारतीय भाषा चिंतन परंपरा में शब्द का इतना महत्व इसलिए भी है क्योंकि इसका ध्येय सत्य प्राप्ति है और शब्द ही अपनी विभिन्न अप्रकट और प्रकट अवस्थाओं में परम सत्य है। शब्द-बोध के लिए केवल लोक प्रसिद्ध होना ही एक शर्त है। कहा भी जाता है कि भारतीय भाषा चिंतन परंपरा में जो लोक प्रचलित व्यवहार है वही शास्त्र है, शास्त्र अलग कुछ नहीं।

पाणिनि के अनुसार भाषा मानव व्यवहार के जैव भौतिक रूप और जैव सामाजिक पक्ष दोनों की सर्जना में निहित है। मनुष्य के बोलने के यंत्र में अलग-अलग प्रकार के प्रयत्न होने के कारण अलग-अलग ध्वन्यात्मक परिणाम आते हैं और ये ध्वनि तरंगों में बदलकर सुननेवाले के कानों में हलचल पैदा करते हैं, यही भाषा का जैव भौतिक रूप है। दूसरा पक्ष जैव-सामाजिक पक्ष है जिसमें ये जैव-भौतिक घटनाएँ सामुदायिक सह

जीवन से प्रेरित संप्रेषण की इच्छा और पूर्व-अर्जित भाषा-संस्कार की पुनरुत्पादक शक्ति से प्रेरित होती हैं। एक तरफ भाषा व्यष्टि में अभिव्यक्त होती है, वहीं दूसरी ओर यह समष्टि की संकल्पना से संघटित (सम्पृक्त) होने के कारण एक साथ या अलग-अलग सभी के द्वारा ऐसे ग्रहण की जाती है, जैसे— उसके संदेश के शब्द और अर्थ में सभी लोग समान रूप से भागीदार रहे हों। व्यक्ति द्वारा प्रयोग किए जाने पर भी भाषा 'समष्टि चैतन्य' (समग्र प्राणियों में उपस्थित उस एक ऊर्जा चेतना) से संयुक्त है। इसलिए भाषा व्यक्ति की सृजन करने की प्रतिभा या सामर्थ्य को समुदाय में लाने का सबसे समर्थ माध्यम है। अन्य कोई भी माध्यम भारतीय चिंतन में इसी पर आश्रित है।

‘सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्र।

आ सखाय सख्या निजानते भद्रेषाम
लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि’ (ऋग्वेद, द्वितीय सूक्त)

छन्दस वाणी— सामान्य भाषा से ऊपर की भाषा जो विशेष प्रकार के अपरोक्ष अनुभव से प्राप्त होती है। छन्दस वाणी या अंतः स्फूर्त वाणी की शुद्धता में अभ्युदय की शक्ति (मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने वाली शक्ति) का आधान किया गया है। इस तरह भाषा व्यक्तिगतता और सामुदायिकता के मध्य एक निरंतर सृजनात्मक द्वंद्व या तनाव की स्थिति भी है। जहाँ एक तरह से भाषा से आदमी बंधता है वहीं दूसरी तरह से भाषा के द्वारा आदमी अपनी निजता से उबरकर मुक्त भी होता है। परस्पर संप्रेषण की पूर्णता भाषा का आदर्श जरूर है पर संप्रेषण के साधन का काम करते हुए स्वभाववश मानव के आंतरिक स्तर पर समष्टि चित्तवृत्ति में आकार लेकर भाषा मानव का परम साध्य भी बनती है।

वाक् या भाषा की अवस्थाएँ

भारतीय भाषा शास्त्रीय चिंतन में मुखोच्चरित भाषा को 'वैखरी' और मनोगत भाषा को 'मध्यमा' कहा गया है। सोचने वाला जान सकता है कि वह कब, किस भाषा में सोच रहा है, वैखरी और मध्यमा की शब्दावली भी एक होती है। निरंतर हमारे अंदर भाषा पैदा होती रहती है। वैखरी के रूप में मुख से बाहर आने और श्रोता तक जाने के पूर्व मध्यमा के रूप में मष्तिष्क में तरंगों-सी अवस्था में रहती है। दरअसल मध्यमा को उभरता हुआ या उठता हुआ तो देख सकते हैं किंतु उस पर नियंत्रण नहीं किया जा सकता और न ही भाषा के इस रूप के स्रोत को पूरी तरह जाना जा सकता है।

भाषा को साधन-साध्य, बाह्य-आंतरिक दोनों स्तरों पर समझने के लिए हमें यह भी जानना होगा कि भाषा का मूल स्रोत, उद्भव पूरी तरह मानव के संबंध में नहीं है अपितु इससे परे है। वैदिक ऋषियों ने गहरी साधना से जाना कि भाषा की विभिन्न अवस्थाएँ हैं जिनमें मुख से बाहर आने वाली भाषा उसका केवल एक रूप है।

‘चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्रह्माणा ये मनीषिणः।

गुहा त्रीणि निहिता नेंगयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥’ (ऋग्वेद)

वेद में भाषा के सभी रूपों को मिलाकर 'वाक्' (सृष्टि की प्रक्रिया या सृष्टि की समांतर सृष्टि) कहा गया है। वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति और परा की चार अवस्थाओं में से केवल वैखरी ही मनुष्य द्वारा बोली जाने वाली है। अन्य तीन अवस्थाएँ आंतरिक स्तर पर रहती हैं तथा दर्शन और अध्यात्मिक साधना की प्रक्रिया में ही अनुभूत की जा सकती हैं। भाषा के बारे में खोज करते हुए इस पर भी चिंतन करना होगा कि भाषा

अविभाज्य, अप्रकट और प्रकट रूप में सदा मनुष्य के साथ है। केवल वाणी में ही नहीं अपितु विचारों और सपनों में भी मनुष्य के साथ है। देकार्ते जैसे दार्शनिक ने अपना अस्तित्व ही अपने चिंतन के आधार पर सिद्ध किया। भाषा का आदि बिंदु व अंत बिंदु कहाँ है, वह कौन-सी अवस्था है जहाँ भाषा प्रवाह का अंत होता है, ऐसे प्रश्न हैं जिनके उत्तर ढूँढ़ने के लिए भारतीय चिंतन में न केवल बाह्य चर्चा, प्रक्रियाओं पर काम किया गया अपितु ध्यान व योग अथवा साधना के तरीके से भी आगे बढ़ा गया।

अलग-अलग भाषाओं के स्वरूप, संरचना और उच्चारण सीखने की प्रक्रिया में भिन्नताएँ हैं। प्रत्येक मनुष्य अपनी चेतन अवस्था में ऐसी स्थिति में होता है या तो भाषा मनुष्य के मुख से बाहर आ रही होती है या जहाँ भाषा विचारों के रूप में उसके मन में उठ रही होती है, यह सभी पर लागू होता है। भाषा निरंतर चलती रहने वाली प्रक्रिया है— बोली व न बोली जा सकने वाली प्रत्येक अवस्था में। वाक् या भाषा निरंतर निस्सृत होती रहती है। वाक् या भाषा मनुष्य की चेतना से ऊपर की किसी शक्ति की परिणिति है जो बहुधा मनुष्य के न चाहते हुए भी उसके मन में पैदा होती रहती है। प्राचीन भारतीय शास्त्रों में मनुष्य को वाक् का कर्ता नहीं माना गया अपितु वाक् का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इस वाक् शक्ति के प्रकट होने के लिए मनुष्य का मस्तिष्क केवल आधार का काम करता है। भाषा दार्शनिक भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ *वाक्यपदीयः* की टीका में कहा है—

वागेवार्थ पश्यति वाग्वीती वागेवार्थ
निहितं सन्तनोति।

अर्थात् वाक् ही अर्थ को देखती है, वाक् ही बोलती है और वाक् ही शब्दों में निहित अर्थ का विस्तार करती है।

इससे स्पष्ट है कि भर्तृहरि और उनके पूर्ववर्ती आचार्य वाक् का स्वायत्त अस्तित्व स्वीकार करते हैं। वे इसे पूर्णतया मानव सापेक्ष नहीं मानते। भाषा का अस्तित्व मात्र मनुष्य से नहीं है अपितु वह मनुष्य द्वारा अभिव्यक्त है।

निष्कर्ष

भाषा की व्यापकता और गहनता का भान होने से भाषा से जुड़े प्रश्नों पर चर्चा को साधन मात्र मानने से आगे ले जाया जा सकता है। भाषा का आंतरिक पक्ष, साध्य व साधन इत्यादि के रूप में सोचते हुए हम देख सकते हैं कि भारतीय भाषा शास्त्रीय चिंतन में भाषा वाक् है, भाषा समस्त चेतना की एक अभिव्यक्ति है। भाषा की प्रकट और अप्रकट अवस्थाएँ हैं। भाषा प्रवाह का आदि-अंत जानना एक आंतरिक, अनुभूति परक यात्रा से जुड़ा है। भाषा और विचार का संबंध केवल मनोवैज्ञानिक घटना मात्र नहीं है अपितु यह मनुष्य के नियंत्रण से परे एक सतत प्रक्रिया के रूप में भाषा की उपस्थिति का संकेत करता है। इस तरह हम देख सकते हैं कि भारतीय भाषा चिंतन परंपरा बहुत व्यापक, अति गहन व कई सूक्ष्म स्तरों पर भाषा की विवेचना करती है। भाषा जड़ से चेतन और चेतन से संपूर्ण सत्य की अनुभूति के आग्रह में बसी है। भारतीय भाषा चिंतन परंपरा भाषा को आंतरिक अनुभूति और साधना के विषय के रूप में देखती है। भाषा साधन मात्र नहीं है वह साध्य भी है। भाषा समस्त चेतना का प्राकट्य है। भाषा तत्व भी है और ज्ञान को जानने का एक प्रमाणिक साधन भी। भाषा से जुड़ी बहस कुछ युक्तियों से भाषा

सिखाने भर की न होकर दार्शनिक पक्षों को भी गहराई से देखने वाली है। भाषा के भारतीय पक्ष को जानने की आवश्यकता है क्योंकि इससे हम भाषा के अर्थ, उद्देश्य, भाषा-भाव संबंध, वास्तविकता की समझ और शब्दों पर निर्भरता की डिग्री क्या हो, जैसे जटिल प्रश्नों पर सोचने में मदद प्राप्त कर सकते हैं। भाषा के बाहरी पक्ष की चर्चा में सिमट कर रह जाने से भाषा और भाषा-शिक्षण का विमर्श अधूरा ही रह जाएगा।

संदर्भ

- गोयल, धर्मेन्द्र. 1991. *भाषा दर्शन*. हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़.
- जैन, वृषभ प्र. 1984. *भारतीय शब्द— दर्शन*. महावीर प्रकाशन, उत्तर प्रदेश.
- मिश्र, विद्यानिवास. 1978. *भारतीय भाषा शास्त्रीय चिंतन की पीठिका*. बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्.
- मिश्र, विद्यानिवास व अन्य. 1976. *भारतीय भाषा शास्त्रीय चिंतन*. राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी.
- विद्यालंकार, अनिल. जनवरी 2012. वाक्यपदीयः भर्तृहरि का भाषा-दर्शन. *भारत-संधानः भारतीय चिंतन की स्वाध्याय पत्रिका*. 6(1). नयी दिल्ली.